पारसन्स का संरचनात्मक-प्रकार्यवाद

(Structural-Functionalism of Parsons)

पारसन्स ने व्यापारिक सौदे के उदाहरण द्वारा अपने विचारों का स्पष्टीकरण किया है। व्यापारिक सौदा ऊपर से देखने पर हॉब्स के व्यक्ति के स्वार्थी व मतलबी होने की बात की पुष्टि करता है, जबकि वास्तव में ऐसा नहीं है। व्यापारिक अनुबन्ध कुछ नियामक व आदर्शात्मक नियमों की व्यवस्था के आधार पर होता है। पारसन्स के अनुसार नैतिक वचनबद्धता दोनों पक्षों को उन नियमों को मानने के लिए बाध्य करती है। अतः आर्थिक व्यवस्था व्यापारिक नैतिकता के सामान्य समझौते पर आधारित होती है। बलपूर्वक या धोखाधड़ी से जो अनुबन्ध होते हैं वे बाध्यकारी नहीं होते। मूल्यों में मतैक्य समाज में एकीकरण का प्रमुख नियम है। यदि समाज के सदस्य समान मूल्यों के प्रति वचनबद्ध हैं, वे सामान्य एकात्मता (Common identity) में शामिल होते हैं और इससे एकता व सहयोग विकसित होता है। साझे मूल्यों से सामान्य लक्ष्य निर्धारित होते हैं। एक सामान्य लक्ष्य सहयोग के लिए प्रेरणा प्रदान करता है।

पारसन्स ने मूल्य-मतैक्य पर इतना अधिक बल दिया है कि उनके अनुसार समाजशास्त्र का मुख्य उद्देश्य किसी सामाजिक व्यवस्था में मूल्यों के प्रतिमानों के संस्थाकरण (Institutionalization of patterns of value orientation in social system) की व्याख्या करना है। जब मूल्यों का संस्थाकरण हो जाता है तथा उनके अनुकूल व्यवहार संरचित हो जाता है तो इसका परिणाम स्थायी व्यवस्था होती है। जब सामाजिक सन्तुलन की स्थिति पैदा हो जाती है तो व्यवस्था के विभिन्न भागों में सन्तुलन की स्थिति होती है। सामाजिक सन्तुलन दो तरह से बनाए रखा जा सकता है—**प्रथम**, समाजीकरण द्वारा जिसके माध्यम से मूल्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होते हैं तथा वैयक्तिक व्यक्तित्वों का अभिन्न अंग बन जाते हैं तथा **द्वितीय**, सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न माध्यम भी सामाजिक विचलन पर अंकुश रखकर सन्तुलन बनाए रखने में सहायता देते हैं। समाज में व्यवस्था व सन्तुलन के लिए समाजीकरण तथा सामाजिक नियन्त्रण मूल प्रक्रियाएं हैं।

पारसन्स ने समाज को एक व्यवस्था माना है तथा सामाजिक व्यवस्था के संरचनात्मक व प्रकार्यात्मक पहलुओं का बड़ा सटीक विश्लेषण किया है। टॉलकट पारसन्स के अनुसार सामाजिक व्यवस्था वैयक्तिक कर्ताओं की बहुलता है जो एक ऐसी स्थिति में एक-दूसरे से अन्तर्क्रियाएं करते हैं जिसका कम से कम एक भौतिक अथवा पर्यावरण सम्बन्धी पहलू होता है। इस व्यवस्था के कर्ता अधिकतम आवश्यकताओं की सन्तुष्टि (Optimization of gratification) की भावना से प्रेरित होते हैं और अन्तर्क्रियाओं में लगे हुए व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध, जिनमें परिस्थितियों के साथ उनके सम्बन्ध भी सम्मिलित हैं, सांस्कृतिक रूप से संरचित तथा स्वीकृत प्रतीकों की एक व्यवस्था द्वारा परिभाषित एवं मध्यस्थित होते हैं।

सामाजिक व्यवस्था व्यक्तिगत कर्ताओं की बहुलता है तथा उनकी क्रियाएं एवं अन्तर्क्रियाएं अर्थपूर्ण एवं उद्देश्यपूर्ण होती हैं। सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों अर्थात् क्रियाओं में एक निश्चित क्रमबद्धता पाई जाती है। यह एक भौतिक एवं पर्यावरण सम्बन्धी पहलू होता है तथा जो सांस्कृतिक व्यवस्था द्वारा संगठित, नियन्त्रित एवं सम्बन्धित होता है। सामाजिक व्यवस्था में अनुकूलन तथा सन्तुलन बनाए रखने की भी क्षमता पाई जाती है।

सामाजिक व्यवस्था की मूलभूत इकाइयाँ इस प्रकार हैं—कर्ता (Actors), उनकी क्रिया (Actions), स्थिति-भूमिका (Status-role) तथा समूह (Collectivity) है। कर्ता को व्यवस्था एक निश्चित स्थिति व भूमिका वाली इकाई के रूप में देखा जाना चाहिए। सामाजिक व्यवस्था निर्माण कर्ताओं की क्रियाओं तथा अन्तर्क्रियाओं द्वारा होता है। इन क्रियाओं तथा अन्तर्क्रियाओं परिणामस्वरूप कर्ताओं में स्थापित अन्तर्सम्बन्धों के रूप को स्थिति-भूमिका कहा जा सकता है। एक ओर कर्ताओं का संकलन है तथा दूसरी ओर स्वयं उन्मेष की एक वस्तु है।

(अ) सामाजिक व्यवस्था का संरचनात्मक पक्ष

(Structural Aspect of Social System)

पारसन्स ने सामाजिक व्यवस्था के संरचनात्मक तथा प्रकार्यात्मक पक्षों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। संरचनात्मक पक्ष की विवेचना के लिए सामाजिक संरचना का अर्थ जान लेना अनिवार्य है। किसी वस्तु की संरचना से तात्पर्य उसके विभिन्न भागों में पाए जाने वाले सापेक्षिक रूप से स्थाई अन्तर्सम्बन्धों से है। व्यक्तियों की अन्तर्क्रियाएँ उनकी भूमिका से सम्बन्धित होती हैं, अतः सामाजिक व्यवस्था की संरचना का उल्लेख केवल भूमिकाओं के सन्दर्भ में किया जा सकता है तथा सामाजिक व्यवस्था अन्तर्सम्बन्धित भूमिकाओं की भी एक व्यवस्था है। भूमिकाएँ अपेक्षाकृत स्थायी होती हैं तथा सांस्कृतिक विरासत के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती हैं। विविध भूमिका निभाने वाले व्यक्ति समूहों में संगठित होते हैं तथा इन समूहों में भी अपेक्षाकृत स्थायित्व पाया जाता है क्योंकि कर्ताओं के आने-जाने से समूह की निरन्तरता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सामाजिक भूमिकाओं तथा समूहों को स्थायित्व प्रदान करने में सामाजिक प्रतिमानों अथवा आदर्शों का विशेष योगदान होता है। इन्हीं आदर्शों से कर्ताओं की भूमिकाएँ एवं एक-दूसरे के प्रति उनके उत्तरदायित्व निर्धारित होते हैं।

सामाजिक व्यवस्था की संरचना से सम्बन्धित आदर्श दो प्रकार के हैं—

(1) सम्बन्धात्मक आदर्श (Relational Norms); तथा

(2) नियमनात्मक आदर्श (Regulative Norms)।

सम्बन्धात्मक आदर्शों से कर्ताओं को अन्य कर्ताओं के प्रति उनके अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों का पता चलता है। सम्बन्धात्मक आदर्शों से भूमिकाओं एवं समूहों में विभेदीकरण के साथ ही साथ इनके पारस्परिक सम्बन्धों का भी पता चलता है। नियमनात्मक आदर्श समाज द्वारा स्वीकृत आदर्श होते हैं जो उनकी अन्तर्क्रियाओं अथवा उनके कार्य-क्षेत्र की सीमाओं को निर्धारित करते हैं। इनमें कर्ता को पता चलता है कि किसी भूमिका में वह क्या-क्या कर सकता है।

सामाजिक व्यवस्था की संरचना में आदर्शों के अतिरिक्त मूल्यों (Values) को भी सम्मिलित किया जाता है। मूल्यों का भी भूमिकाओं तथा समूहों के विभेदीकरण तथा स्थायित्व में विशेष महत्व है। सामाजिक व्यवस्था के स्थायित्व के लिए कर्ताओं के मूल्यों तथा उनकी इच्छाओं में परस्पर अनुरूपता होना अनिवार्य है ताकि इनमें संघर्ष की स्थिति को टाला जा सके। मूल्य तथा आदर्श परस्पर सम्बन्धित होते हैं तथा इन्हें संस्कृति के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। पारसन्स के अनुसार सामाजिक संरचना आदर्शात्मक संस्कृति का एक संगठित तथा स्थायी स्वरूप है अर्थात् अन्तर्सम्बन्धित भूमिकाओं, समूहों, आदर्शों और मूल्यों का समूह है जिनसे कर्ताओं का व्यवहार निर्देशित होता है।

अतः पारसन्स ने सामाजिक व्यवस्था की संरचना में प्रमुख रूप से सम्बन्धात्मक आदर्शों द्वारा जुड़े हुए समूहों तथा कर्ताओं की भूमिकाओं एवं इन्हें नियमित, निर्देशित एवं नियन्त्रित करने वाले नियमनात्मक आदर्शों और सांस्कृतिक मूल्यों को सम्मिलित किया है। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था

की संरचना अर्थात् संरचनात्मक उपव्यवस्था में चार उपव्यवस्थाओं को सम्मिलित किया है। ये उपव्यवस्थाएँ निम्नलिखित हैं—

(1) नातेदारी व्यवस्था (Kinship system);
(2) अर्थव्यवस्था (Economy);
(3) राजनीतिक व्यवस्था (Political system); तथा
(4) धर्म (Religion)।

नातेदारी समूह कर्ताओं की स्थिति का निर्धारण करते हैं तथा समाजीकरण द्वारा सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों को नई पीढ़ी में हस्तान्तरित करते हैं। इन समूहों द्वारा विभिन्न लिंगों के परस्पर सम्बन्धों पर भी नियन्त्रण रखा जाता है। ये समूह कर्ताओं में विविधता को भी सीमित करते हैं। अर्थव्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था तथा धार्मिक व्यवस्था सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था अथवा समाज में व्याप्त होती हैं।

सामाजिक व्यवस्था में संरचनात्मक पक्ष के साथ ही इसके अर्द्ध-संरचनात्मक (Quasi-structure) पक्ष को भी समझ लेना अनिवार्य है। अर्द्ध-संरचनात्मक पक्ष में (i) किसी विशिष्ट प्रकार के उप-समूहों की संख्या, (ii) इस प्रकार के उप-समूहों तथा सम्बन्धित उप-समूहों की संख्या का अनुपात, (iii) प्रत्येक प्रकार के उपसमूह में सदस्यों का वितरण, (iv) सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के अन्दर और उपसमूहों के अन्दर विभिन्न भूमिकाओं वाले लोगों की संख्या तथा (v) इनमें सुविधाओं और पुरस्कारों के वितरण को सम्मिलित किया जाता है।

(ब) सामाजिक व्यवस्था का प्रकार्यात्मक पक्ष

(Functional Aspect of Social System)

पारसन्स ने सामाजिक व्यवस्था के संरचनात्मक तथा प्रकार्यात्मक पक्षों की विवेचना करके यह बता दिया है कि सामाजिक व्यवस्था के ये दोनों पहलू परस्पर सम्बन्धित हैं क्योंकि सामाजिक व्यवस्था की संरचना का विश्लेषण उसके प्रकार्यात्मक विश्लेषण के आधार पर ही किया जा सकता है। सामाजिक व्यवस्था के प्रकार्यात्मक पक्ष की विवेचना करने से पहले प्रकार्य शब्द को जान लेना जरूरी है।

प्रकार्य का अर्थ किसी इकाई के अंग द्वारा उस इकाई के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए दिया जाने वाला योगदान है। **दुर्खीम** (Durkheim) के अनुसार प्रकार्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—**प्रथम**, इससे किसी प्राणाधार गतिविधियों की व्यवस्था के बारे में पता चलता है जिसके परिणामों से हमारा कोई तात्पर्य नहीं रहता, जबकि **दूसरे** अर्थ में इसके द्वारा इन गतिविधियों तथा जीव की आवश्यकताओं के सम्बन्ध के बारे में पता चलता है। **जॉनसन** (Johnson) के अनुसार यदि संरचना का कोई भाग (उपसमूह का कोई प्रकार, भूमिका, सामाजिक मध्यमान या सांस्कृतिक मूल्य) किसी सामाजिक व्यवस्था या उपव्यवस्था की एक या एक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति में योगदान करता है तो हम कह सकते हैं कि उसका कोई प्रकार्य है।

यह आवश्यक नहीं है कि सामाजिक संरचना के सभी भाग पूर्णतः प्रकार्यात्मक ही हो। हो सकता है कि कुछ भाग व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा डालते हों या किसी कारणवश अपनी भूमिका ठीक प्रकार से न निभा रहे हों अर्थात् यह भी सम्भव है कि कुछ भाग अकार्यात्मक (Dysfunctional) भूमिका निभाते हों।

पारसन्स के अनुसार सामाजिक व्यवस्था को अपनी संरचना में स्थायित्व बनाए रखने तथा अपने अस्तित्व की रक्षा करने के लिए चार प्रकार की प्रकार्यात्मक समस्याओं को सुलझाना पड़ता है। ये समस्याएँ अग्रलिखित हैं—

(1) अनुकूलन (Adaptation);

(2) लक्ष्य प्राप्ति (Goal attainment);

(3) एकीकरण (Integration); तथा

(4) प्रतिमानात्मक स्थायित्व तथा तनाव नियन्त्रण (Pattern maintenance and tension management or latency)।

(1) **अनुकूलन** (Adaptation)—कोई भी सामाजिक व्यवस्था शून्य में स्थित नहीं होती अपि किसी पर्यावरण में स्थित एवं कार्यरत होती है। पर्यावरण में अनेक अन्य व्यवस्थाएँ भी होती हैं। सामाजिक व्यवस्था के सामने प्रथम समस्या इस पर्यावरण से अनुकूलन की है जिसमें कि वह है। पर्यावरण को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) भौतिक या भौगोलिक पर्यावरण (Physical environment); तथा

(ii) सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण (Socio-cultural environment)।

सामाजिक व्यवस्था को अपना अस्तित्व बनाए रखने तथा अपने आपको सन्तुलित बनाए रख के लिए दोनों प्रकार के पर्यावरणों से अनुकूलन करना पड़ता है। भौतिक पर्यावरण से अनुकू सामाजिक व्यवस्था भौतिक संस्कृति अर्थात् सभ्यता के माध्यम से करती है, जबकि सामाजि सांस्कृतिक पर्यावरण से अनुकूलन प्रतिमानित आदर्शों एवं मूल्यों की सहायता से किया जाता है। सम्पू सामाजिक व्यवस्था अनेक उपसमूहों में विभाजित होती है जिनमें प्रकार्यात्मक सम्बद्धता तथा निर्भर पाई जाती है। इसी सम्बद्धता तथा निर्भरता के फलस्वरूप ही सामाजिक व्यवस्था को अन्य व्यवस्थाओं से अनुकूलन करना पड़ता है और यह अनुकूलन परस्पर विरोधी आदर्शों एवं मूल्यों पर नियन्त्रण रखक ही सम्भव हो सकता है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में एक विशेष प्रकार की यान्त्रिकी (Mechanism) होती है जिसके द्वारा वह पर्यावरण से अनुकूलन करती है। विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित प्रधान मूल्यों के स्पष्टीकरण, मूल्यों में पाए जाने वाले विरोधाभास के औचित्य स्थापन, स्वीकृत व्यवहार प्रतिमानों के प्रतीकात्मक तथा सन्दर्भात्मक पृथक्करण तथा परस्पर विरोधी व्यवहार को समयानुसार नियमित करके सामाजिक व्यवस्था पर्यावरण से अनुकूलन रखती है।

(2) **लक्ष्य प्राप्ति** (Goal attainment)—सामाजिक व्यवस्था की दूसरी प्रमुख प्रकार्यात्मक आवश्यकता (जोकि उसके अस्तित्व और स्थायित्व के लिए अनिवार्य है), सदस्यों की मूलभू आवश्यकताओं अर्थात् लक्ष्यों की पूर्ति से सम्बन्धित है। प्रत्येक व्यवस्था में कुछ लक्ष्यों को महत्वपू माना जाता है तथा इन लक्ष्यों की प्राप्ति के साधन उपलब्ध करवाकर ही सामाजिक व्यवस्था पर्यावरण से अनुकूलन कर सकती है और व्यक्तियों की आवश्यकताओं की भी सन्तुष्टि कर सकती है। सदस्यों की जैविक एवं मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति मानवीय साधनों को जुटाकर तथा व्यक्तियों में प्रेरणा उत्पन्न करके की जा सकती है। सामाजिक व्यवस्था सदस्यों में ऐसी उत्प्रेरणाएँ विकसित करती है कि वे एक-दूसरे के उचित कार्यों में बाधा न डालें तथा लक्ष्य प्राप्ति के लिए स्वत: व्यवहार करने के लिए प्रेरित हों।

(3) **एकीकरण** (Integration)—सामाजिक व्यवस्था की तीसरी प्रकार्यात्मक आवश्यकता इसके विभिन्न अंगों में समन्वय एवं एकीकरण से सम्बन्धित है क्योंकि सामाजिक व्यवस्था का निर्माण परस्पर सम्बन्धित एवं अन्तर्क्रियारत इकाइयों द्वारा होता है। अत: इन इकाइयों या उपव्यवस्थाओं के लक्ष्यों, मूल्यों, आदर्शों आदि में विविधता के कारण इन इकाइयों में परस्पर विरोध पैदा हो सकता है। यदि सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों के प्रकार्य एक-दूसरे के पूरक तथा परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं तो व्यवस्था में निरन्तरता, स्थायित्व एवं सामंजस्य की समस्या बनी रहती है। सामाजिक व्यवस्था

एकीकरण की समस्या का समाधान अनेक सकारात्मक एवं नकारात्मक नियमों के विकास द्वारा करती है जिनसे विभिन्न अंगों, उपसमूहों एवं उपसंरचनाओं में तालमेल एवं समाकलन तथा व्यवस्था में स्थायित्व बना रहता है।

(4) **प्रतिमानात्मक स्थायित्व तथा तनाव नियन्त्रण** (Pattern maintenance and tension management)—सामाजिक व्यवस्था की चौथी आवश्यकता व्यवस्था के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों अथवा प्रतिमानों को बनाए रखने तथा समय-समय पर इनमें जो तनाव उत्पन्न होता है इसे कम करने से सम्बन्धित है। भूमिकाओं तथा सम्बन्धों के संस्थाकरण द्वारा विभिन्न अंगों में प्रकार्यात्मक एकता बनाए रखी जा सकती है। व्यवहार के निश्चित प्रतिमानों द्वारा व्यक्तित्व एवं सांस्कृतिक स्तर को संगठित एवं नियमित किया जा सकता है। तनाव नियन्त्रण की समस्या केवल सामाजिक व्यवस्था के स्तर पर ही विकसित नहीं होती अपितु व्यक्तित्व तथा सांस्कृतिक स्तर पर भी विकसित होती है। व्यक्तिगत मूल्यों, मनोवृत्तियों एवं भावनाओं में अन्तर के कारण व्यवस्था के अंगों में तनाव पैदा हो सकता है तथा एक अंग का दूसरे अंग से टकराव पैदा हो सकता है। सांस्कृतिक मूल्यों में अन्तर के कारण सांस्कृतिक व्यवस्था के स्तर पर भी इस प्रकार का तनाव पैदा हो सकता है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सामाजिक व्यवस्था विभिन्न स्तरों पर पैदा होने वाले तनाव को नियन्त्रित कर सकती है। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति उन सांस्कृतिक मूल्यों को ग्रहण करता है जिनके आधार पर विभिन्न अंग निश्चित प्रतिमानों में संगठित होते हैं।

सामाजिक व्यवस्था की चारों प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं में संघर्ष मानव की अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने की प्रवृत्ति तथा वस्तुओं की न्यूनता, मानव की सीमित एवं परस्पर विरोधी इच्छाओं तथा लक्ष्य-उन्मेषित तथा अनुकूलनात्मक मानव प्रकृति के कारण होता है। प्रत्येक व्यवस्था के लिए इस संघर्ष को नियमित करना अनिवार्य है।

उपर्युक्त विश्लेषण से कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान हो जाता है। पहला प्रश्न है कि '**प्रकार्य क्या है?**' स्पष्ट है कि प्रकार्य किसी इकाई का वह योगदान है जो वह व्यवस्था के अस्तित्व को बनाए रखने और उसके द्वारा लक्ष्यों की प्राप्ति में प्रदान करती है। इसी प्रकार से समाज की किसी उप-व्यवस्था का प्रकार्य उसका वह योगदान होगा जो वह समूचे समाज की व्यवस्था को सुचारु रूप से बनाए रखने में प्रदान करती है। इससे स्पष्ट है कि प्रकार्य का अर्थ इकाई की अपनी भूमिका सम्पादन से होने वाले उस सकारात्मक परिणाम से है जोकि व्यवस्था के लिए होता है। उदाहरण के लिए—मानव शरीर में हृदय का प्रकार्य रक्त शुद्धि को बनाए रखना एवं इसका समस्त शरीर में संचारण बनाए रखना है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी इकाई के प्रकार्य का विश्लेषण व्यवस्था के लिए होने वाले परिणाम के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। प्रकार्य के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें भी स्मरणीय हैं—**प्रथम**, प्रकार्य से तात्पर्य, उद्देश्य (Purpose) अथवा प्रयोजन (Aim) से नहीं होता क्योंकि उद्देश्य सदा व्यक्तिनिष्ठ होता है। किसी सामाजिक व्यवस्था में सहभागिता करने वाले व्यक्तियों का अपना अलग-अलग प्रयोजन हो सकता है। **द्वितीय**, प्रकार्य का अर्थ 'लाभदायक', 'शुभ' अथवा 'वांछनीय' भी नहीं है। **रैडक्लिफ-ब्राउन** ने उचित ही लिखा कि एक जंगली कबीले में जादू टोने या नरमुण्ड शिकार जैसी प्रथाएँ हो सकती हैं। आधुनिक सभ्यता की दृष्टि से उन्हें कितना ही घृणित क्यों न कहा जाए, इन प्रथाओं के प्रकार्यों का अध्ययन उस कबीले की व्यवस्था में योगदान की दृष्टि से ही किया जाना चाहिए। **तृतीय**, प्रकार्य की अवधारणा इस मान्यता पर आधारित होती है कि मानवीय समाजों के अस्तित्व के लिए कुछ दशाओं का होना अनिवार्य है; जैसे—जनसंख्या की सततता का बना रहना। ऐसी दशाओं

के सन्दर्भ में प्रकार्यों का विश्लेषण करना सरल हो जाता है। **चतुर्थ**, प्रकार्य किसी इकाई की क्रिया अथवा व्यवहार नहीं है वरन् उस क्रिया से सामाजिक व्यवस्था की ओर होने वाला सकारात्मक योगदान है। **अन्तिम रूप से**, प्रकार्य को ठोस रूप से मापना सरल नहीं है। इस दृष्टि से यह एक अमूर्त अवधारणा है।

प्रकार्य की अवधारणा का स्पष्टीकरण स्वभावतः इसकी विपरीत दिशा से सम्बन्धित दूसरे प्रश्न को जन्म देता है। वह प्रश्न यह है कि यदि कोई इकाई अपनी क्रिया या व्यवहार द्वारा व्यवस्था के लिए ऋणात्मक परिणाम उत्पन्न कर रही है अर्थात् वह व्यवस्था में व्यवधान उत्पन्न कर रही या उसके अस्तित्व के लिए खतरा पैदा कर रही है तो ऐसी स्थिति को क्या कहा जाए? समाजशास्त्र में इस स्थिति के लिए अकार्य तथा अपकार्य (Dysfunction) की अवधारणा का विकास किया गया है। अकार्य किसी इकाई का सामाजिक व्यवस्था में ऋणात्मक योगदान है।

रोबर्ट के० मर्टन (Robert K. Merton) ने सामाजिक व्यवस्था के प्रकार्यात्मक पक्ष के अध्ययन को एक नई दिशा प्रदान की। उन्होंने सुझाव दिया कि किसी इकाई, उप-समूह या उप-व्यवस्था के प्रकार्य का अध्ययन करते समय प्रत्यक्ष प्रकार्य (Manifest function) तथा प्रच्छन्न प्रकार्य (Latent function) दोनों का ही ध्यान रखना चाहिए। उनका **प्रत्यक्ष प्रकार्य** से तात्पर्य उन प्रकार्यों से है जोकि उस व्यवस्था या उप-व्यवस्था द्वारा स्वीकृत और घोषित हैं। दूसरी ओर, **प्रच्छन्न प्रकार्य** वे हैं जो न तो पूर्व घोषित हैं और न उन्हें प्राप्त करने का स्पष्ट इरादा ही किया गया था। उदाहरण के तौर पर, हिन्दू धर्म में मन्दिर रूपी संस्था का विकास देवताओं की पूजा व धार्मिक कृत्यों के लिए किया गया था। धर्म का प्रसार एवं सम्बन्धित धार्मिक समुदाय में एकीकरण मन्दिर का प्रत्यक्ष प्रकार्य है लेकिन उसके द्वारा संगीत, नृत्य, चित्रकला व वास्तुकला को प्रोत्साहन अथवा अनाथों व विधवाओं का पालन-पोषण मन्दिर का प्रच्छन्न प्रकार्य है। यही बात अकार्य के सम्बन्ध में भी लागू होती है। वे भी प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न हो सकते हैं। मध्यकालीन दक्षिण के मन्दिरों में एक प्रभुतासम्पन्न विलासी पुरोहित वर्ग का उदय और देवदासी जैसी प्रथा का शुरू होना मन्दिर का प्रत्यक्ष अकार्य था और देवदासी प्रथा के परिणामस्वरूप वेश्यावृत्ति या अनाचार का पनपना प्रच्छन्न अकार्य था।

उपर्युक्त विश्लेषण से भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी एक सामाजिक भूमिका या सामाजिक आदर्श या उप-समूह या उप-व्यवस्था के निश्चित प्रकार्य भी हो सकते हैं। वह कुछ प्रकार्य कर रहे हैं तो कुछ अकार्य भी कर सकती है। इसलिए किसी भी सामाजिक व्यवस्था का प्रकार्यात्मक विश्लेषण सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

सामाजिक व्यवस्था के संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक पक्षों के विवेचन के पश्चात् अब हम सरलता से समाज की प्रमुख उप-व्यवस्थाओं का वर्णन कर सकते हैं। **हेरी एम० जॉनसन** ने इन उप-व्यवस्थाओं का सामाजिक संरचना के स्तरों के रूप में वर्णन किया है। अध्ययन की सरलता की दृष्टि से प्रमुख उप-व्यवस्थाओं को दो विस्तृत श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—संरचनात्मक उप-व्यवस्थाएं एवं प्रकार्यात्मक उप-व्यवस्थाएं। अब हम इन उप-व्यवस्थाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।